नयविचार

जितेन्द्र बी० शाह

निर्ग्रन्थ दर्शन में वस्तु तत्त्व को अनन्तधर्मात्मक माना गया है। प्रत्येक वस्तु अनेकानेक भावात्मक और अभावात्मक गुणधर्मों से युक्त होती है। इतना ही नहीं अपितु वस्तु में परस्पर विरोधी गुणधर्म भी एक ही समय में पाए जाते हैं। वस्तु की यह अनन्तधर्मात्मकता ही अनेकान्तवाद का तात्त्विक आधार है[१]। वस्तु में अनेक गुणधर्मों के होने पर भी जब उसका कथन करना होता है तब किसी एक धर्म को, किसी एक अपेक्षा विशेष को प्रमुख बनाकर कथन किया जाता है। वस्तु के विविध पक्षों में जब किसी एक पक्ष को ही प्रधान बनाकर हम कथन करते हैं तब वस्तुतः अन्य पक्षों या गुणधर्म का अभाव नहीं हो जाता। इस अनन्तधर्मात्मक वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए किसी ऐसी कथन-शैली की आवश्यकता होती है जो वस्तु के किसी एक गुणधर्म का विधान करते हुए अन्य गुण धर्मों का निषेध न करे। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वस्तु के सम्बन्ध में जो सापेक्षित कथन किया जाता है वह किसी अभिप्राय-विशेष या दृष्टिकोण-विशेष को ध्यान में रखकर किया जाता है। वक्ता का यह अभिप्राय-विशेष किंवा दृष्टिकोण-विशेष ही नय कहलाता है[२]। तदतिरिक्त जिस अपेक्षा के आधार पर वस्तु के अनन्तगुणधर्मों में से किसी एक गुणधर्म का विधान या निषेध किया जाता है वह नय कहलाता है[३]। नय का सम्बन्ध वस्तु की अभिव्यक्ति की शैली से है। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने **सन्मतिप्रकरण** (प्रायः ईस्वी सन् की पांचवीं शती का पूर्वार्द्ध) में कहा है कि :-

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया[४]॥

अर्थात् कथन की जितनी शैलियां या जितने वचन-पथ होते हैं उतने ही नयवाद होते हैं एवं जितने ही नयवाद होते हैं उतने ही पर-समय अर्थात् परदर्शन होते हैं। इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि नयों की संख्या अनन्त है। क्योंकि वस्तु के अनंत गुणधर्मों की अभिव्यक्ति हेतु विविध दृष्टिकोणों का सहारा लेना पड़ता है। यह सभी विशेष दृष्टिकोण नयाश्रित ही होते हैं। जैन दर्शन में नयों की चर्चा विभिन्न रूपों में की गई है। सर्वप्रथम आगमयुग में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से वस्तु का विवेचन उपलब्ध होता है। वस्तु के द्रव्यात्मक या नित्यत्व को जो अपना विषय बनाता है उसको 'द्रव्यार्थिक-नय' कहा जाता है। इसके विपरीत वस्तु के परिवर्तनशील पक्ष को जो नय अपना विषय बनाता है, वह नय 'पर्यायार्थिक-नय' कहलाता है[५]। फिर प्रतीति एवं यथार्थता के आधार पर भी प्राचीन आगमों में दो प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। जो नय वस्तु के मूलभूत स्वाभाविक स्वरूप को अपना विषय बनाता है उसे हम "निश्चयनय" और जो नय वस्तु के प्रतीतिजन्य विषय को अपना विषय बनाता है उसे "व्यवहारनय" कहा गया है[६]।

प्राचीन आगमों में मुख्य रूप से इन्हीं दो प्रकार के नयों की चर्चा हुई है। कभी-कभी व्यवहारनय या द्रव्यार्थिक नय को अव्युच्छित्ति-नय तथा पर्यायार्थिक-नय या निश्चयनय को व्युच्छित्ति-नय भी कहा गया है[७]। नयों के इस द्विविध विवेचन के पश्चात् हमें अन्य वर्गीकरण भी उपलब्ध होते हैं। उमास्वाति ने **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** (प्रायः ईस्वी ३५०) में नैगमादि पांच मूल नयों का उल्लेख किया है[८]। सिद्धसेन दिवाकर ने **सन्मतिप्रकरण** में नैगमनय को छोड़कर छः नयों की चर्चा की है[९]। **तत्त्वार्थसूत्र** के दिगम्बर टीकाकार एवं कुछ अन्य आचार्य सात नयों की चर्चा करते हैं[१०]। **द्वादशार-नयचक्र** में ग्रन्थकर्ता मल्लवादी (ई० ५५०-६००) ने बारह नयों अर्थात् दृष्टिकोणों को आधार बनाकर चर्चा की है[११]। इन विभिन्न नयों और इनके विभिन्न संयोगों के आधार पर किसी आचार्य ने सात सौ नयों की चर्चा की थी। **सप्तशतार-नयचक्र** नामक ग्रंथ में इन्हीं सात सौ नयों का उल्लेख किया गया था, ऐसा उल्लेख **द्वादशार-नयचक्र**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सिंहसूरी (सिंहशूर) की टीका (प्रायः ईस्वी० ६७५) में उपलब्ध है[१२]। संक्षेप में हम कह सकते है कि जैन परंपरा में नयों के वर्गीकरण की विभिन्न शैलियां रही हैं।

(१) **वर्गीकरण की संक्षिप्त शैली:-** इसके अंतर्गत सामान्यरूप से द्रव्यार्थिक- पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार, व्युच्छित्ति-अव्युच्छित्ति आदि रूपों में नयों के दो विभाग किए गए हैं।

(२) **वर्गीकरण की मध्यम शैली:-** इसमें सामान्य और विशेष को ही आधार बनाकर नयों का चतुर्विध, पंचविध, षड्विध, सप्तविध आदि भेद किए गए हैं।

(३) **वर्गीकरण की विस्तृत शैली:-** यह शैली वर्तमान में प्रचलित नहीं है, किन्तु प्राचीन काल में यह शैली अस्तित्व में रही होगी। क्योंकि **सप्तशतार-नयचक्र** होने का उल्लेख भी प्राप्त हुआ है जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर नयों का विभाजन सात सौ रूपों में भी किया जाता था। किन्तु वर्तमान युग में नयों के वर्गीकरण के संक्षिप्त और मध्यम रूप ही प्रचलित हैं।

आगमकाल में नय विभाजन :-

प्राचीन अर्धमागधी आगम साहित्य में सर्वप्रथम नयों की चर्चा **व्याख्याप्रज्ञप्ति** अपरनाम **भगवतीसूत्र** (ईस्वी २-३ शती) में देखने को मिलती है। इसमें सामान्य रूप से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक तथा निश्चय और व्यवहार नयों की चर्चा हुई है[१३]। द्रव्यार्थिक नय वह दृष्टिकोण है जो सत्ता के शाश्वत पक्ष को, दूसरे शब्दों में द्रव्य को ही अपना विषय बनाता है। जब कि पर्यायार्थिक नय सत्ता या द्रव्य के परिवर्त्तनशील पक्ष को, जिसे परंपरागत शैली में पर्याय कहा जाता है, अपना विषय बनाता है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति** में इनके लिए अव्युच्छित्ति-नय और व्युच्छित्ति-नय शब्द का भी प्रयोग किया गया है। जो द्रव्यार्थिक नय है, उसे ही अव्युच्छित्ति-नय कहा गया है[१४]। अव्युच्छित्ति-नय का विषय सत्ता का सामान्य और शाश्वत पक्ष होता है। सत्ता के पर्यायार्थिक पक्ष को या परिवर्तनशील पक्ष को व्युच्छित्ति-नय कहा गया है, एवं एक ही वस्तु की व्याख्या इन दो दृष्टिकोणों के आधार पर दो प्रकार से की गई है। जैसे— द्रव्यार्थिक दृष्टि या अव्युच्छित्ति-नय की अपेक्षा से वस्तु को शाश्वत कहा जाता है जबकि पर्यायार्थिक दृष्टि या व्युच्छित्ति-नय की अपेक्षा से वस्तु को अशाश्वत या अनित्य माना जाता है। इन्हीं दो दृष्टिकोणों के आधार पर आगे चलकर सामान्य दृष्टिकोण और विशेष दृष्टिकोण की चर्चा हुई है। **सन्मतिप्रकरण** में अभेदगामी दृष्टिकोण को सामान्य और भेदगामी दृष्टिकोण को विशेष कहा है[१५]। वस्तु का सामान्य पक्ष सामान्यतया नित्य होता है और विशेष पक्ष अनित्य होता है। इसलिए द्रव्यार्थिक दृष्टि को सामान्य या अभेदगामी दृष्टि भी कहते हैं। इसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि को विशेष या भेदगामी दृष्टि भी कहा जा सकता है[१६]।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में नयों का एक वर्गीकरण निश्चय और व्यवहार के रूप में भी पाया जाता है। निश्चय नय वस्तु के पारमार्थिक या यथार्थ स्वरूप को या दूसरे शब्दों में कहें तो वस्तु के स्वभाव पक्ष को अपना विषय बनाता है। इसका एक उदाहरण उसी **सूत्र** में इस प्रकार मिलता है — जब भगवान महावीर से यह पूछा गया कि — "हे भगवन् ! फणित् (प्रवाही गुड) का स्वाद कैसा होता है ?" तो उन्होंने उत्तर दिया- "हे गौतम ! व्यवहारनय से तो उसे मीठा कहा जाता है किन्तु निश्चयनय से तो वह पांचों ही प्रकार के स्वादों से युक्त है[१७]।"

इसके अतिरिक्त प्राचीनकाल में ज्ञाननय और क्रियानय तथा शब्दनय और अर्थनय ऐसे भी द्विविध वर्गीकरण प्राप्त होते हैं[१८]। जो नय ज्ञान को प्रमुखता देता है वह ज्ञाननय है[१९] और जो नय क्रिया पर बल देता है वह क्रियानय है[२०]। उन्हें हम ज्ञानमार्गी जीवनदृष्टि और क्रियामार्गी जीवनदृष्टि कहते है। इसी प्रकार जो दृष्टिकोण शब्दग्राही होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह शब्दनय[२१] और जो नय अर्थग्राही होता है उसे अर्थनय के नाम से जाना जाता है[२२] । इस प्रकार **भगवतीसूत्र** जैसे प्राचीन आगम में नयों का विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर विभिन्न शैलियों में विविध प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। यहां हमें नयों के संक्षिप्त वर्गीकरण की शैली का ही बोध होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र[२३] में भी नयों का उल्लेख मिलता हैं किन्तु इसमें उसके भेद-प्रभेदों की कोई चर्चा नहीं मिलती है। इस आधार पर हम यह मान सकते हैं कि **उत्तराध्ययन** के सैद्धान्तिक अध्यायों के काल (ईस्वी १-२ शताब्दि) तक नयों के वर्गीकरण की संक्षिप्त शैली ही अस्तित्व में रही होगी।

अपेक्षाकृत परवर्ती आगम **स्थानांगसूत्र** (संकलन प्राय: ईस्वी ३६३)[२४] और **अनुयोगद्वारसूत्र** (प्राय: गुप्तकाल)[२५] में नयों का सप्तविध वर्गीकरण हमें उपलब्ध होता है। यहां दार्शनिक काल के सात नयों का नाम निर्देश मात्र किया गया है। ऐसा लगता है कि जब **तत्त्वार्थ और सन्मति प्रकरण** आदि ग्रंथों में नय का पंचविध, षड्विध एवं सप्तविध वर्गीकरण किए गए उसमें से सप्तविध वर्गीकरण को ग्रहण करके उन नामों को **स्थानांग** में उसके अंतिम वाचना के समय डाल दिया गया हो। यद्यपि **अनुयोगद्वार सूत्र** के नयद्वार में सातों नयों के लक्षण आदि की चर्चा मिलती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि **अनुयोगद्वार सूत्र, तत्त्वार्थ** और **सन्मतिप्रकरण** जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के बाद ही लिखा गया है। उसकी दार्शनिक शैली स्वयं इस तथ्य का प्रमाण है कि यह आगम ग्रंथ होते हुए भी परवर्ती काल का ही है। इसमें प्रथम चार नय अर्थनय और बाद के तीन नय शब्दनय के रूपमें विवेचित हैं[२७] । अर्थनय का तात्पर्य वस्तु या पदार्थ से है। जो नय पदार्थ को अपना विषय बनाते हैं— वे अर्थनय और जो शब्द को अपना विषय बनाते हैं— वे शब्दनय कहलाते हैं। इस प्रकार परवर्ती आगमों में नयों की विस्तृत चर्चा हमें मिलने लगती है। किन्तु इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत आगम दार्शनिक युग की ही रचना है।

दार्शनिक युग के ग्रंथों में प्राचीनतम ग्रंथ **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** है। इसके प्रथम अध्याय में नय का उल्लेख करने वाले तीन सूत्र उपलब्ध होते हैं[२८] । प्रारंभ में यह कहा गया है कि वस्तुतत्त्व का अभिगम नय और प्रमाण के द्वारा होता है[२९] । इस प्रकार ज्ञान-प्रक्रिया में नय के स्थान और महत्त्व को स्वीकार किया गया है। अध्याय के अंत के दो सूत्रों में नय का वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। पहले सूत्र में नयों को नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ऐसे पांच नयों में विभाजित किया गया है[३०]। फिर नैगम के दो भेदों और शब्द के तीन-तीन भेदों का भी उल्लेख मिलता है[३१]। ज्ञातव्य है कि **सर्वार्थसिद्धि**-मान्य पाठ में इन दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र प्राप्त होता है और इसमें सात नयों का निर्देश एक साथ ही कर दिया गया है[३२] ।

परवर्ती जैन दार्शनिक ग्रंथो में विभिन्न नय दृष्टियों को भिन्न-भिन्न दार्शनिक मंतव्यों के साथ संयोजित करके यह कहा जाता है कि **वेदान्त** संग्रहनय की अपेक्षा से, **बौद्ध दर्शन** ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से, न्याय-**वैशेषिक** दर्शन नैगमनय की अपेक्षा से वस्तु-तत्त्व का विवेचन करते हैं। किन्तु विभिन्न नयों को विभिन्न दर्शनों से संयोजित करने की यह शैली परवर्ती काल की है। **तत्त्वार्थभाष्य** के काल तक हमें इसका उल्लेख नहीं मिलता है। **तत्त्वार्थभाष्य** में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि नैगमादि नय तन्त्रान्तरीय है या स्वतंत्र है ? और इसका उत्तर देते हुए उमास्वाति कहते हैं : "नैगमादि नय न तो तन्त्रान्तरीय हैं और न स्वतंत्र ही हैं। क्योंकि ज्ञेय पदार्थ का स्वरूप ही ऐसा है कि ज्ञेय पदार्थ को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जानने के लिए ही इन नयों का आविर्भाव हुआ है"[३३] । इससे यह फलित होता है कि वाचक उमास्वाति के काल तक दर्शनों को विभिन्न नयों से संयोजित करने की शैली का विकास नहीं हुआ था। यह एक परवर्ती विकास है। वैसे तन्त्र शब्द का एक अन्य अर्थ करके इस विषय पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। प्राचीन ग्रंथों में आगम शब्द के लिए भी तन्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे हरिभद्रसूरि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने यापनीय-तंत्र का उल्लेख किया है[३४]। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उमास्वाति के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ होगा कि जो नैगमादि सात नय है ये उस समय के आगमों में उल्लिखित नहीं थे। अतः यह चर्चा चलती होगी कि यह नय आगम के अनुकूल है या प्रतिकूल है। इसी बात का निराकरण उमास्वाति ने इस प्रकार किया— ये नय आगम में तो नहीं है किन्तु आगम के अनुसार वस्तु-तत्त्व का विवेचन करने के कारण आगम के प्रतिकूल भी नहीं हैं[३५]।

इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैन परंपरा में नयों का अवतरण वस्तु-तत्त्व के विभिन्न पक्ष को पृथक्-पृथक् दृष्टि से व्याख्याबद्ध करने के लिए हुआ है। वस्तु की परिणामियता ही अलग-अलग नय दृष्टियों का आधार है। नयों का विभिन्न दर्शनों के साथ संयोजन करने की शैली अपेक्षाकृत परवर्त्ती है।

सन्मतिप्रकरण में नयों के विभिन्न भेद-प्रभेदों की और उनकी ज्ञान सीमा का विस्तार से विवेचन किया है[३६]। नयों का इतना विस्तृत विवेचन न तो आगमिक साहित्य में मिलता है और न **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** जैसे आरंभिक दर्शनग्रंथ में उपलब्ध होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने मूल में आगम का अनुसरण करते हुए दो नयों का प्रतिपादन किया और दार्शनिक युग के नैगम आदि नयों का इन दो मूल नयों में समावेश किया[३७]। सिद्धसेन की विशेषता यह है कि वे नैगमादि सात नयों में नैगमनय का निषेध करके मात्र छह नयों को ही स्वीकार करते हैं[३८]। नैगमनय को अस्वीकार करने का मूलभूत कारण यह हो सकता है कि कोई भी नय वस्तु के स्वरूप पर कोई एक ही दृष्टिकोण से विचार कर सकता है। क्योंकि नैगम में सामान्य और विशेष ऐसे दोनों दृष्टिकोणों का अन्तर्भाव माना गया था। इसलिए वह स्वतंत्र नय या दृष्टि नहीं हो सकता। यदि नैगम द्रव्य को अखंडित रूप में ग्रहण करता है तो वह संग्रहनय में अन्तर्निहित होगा और यदि वह वस्तु को भेद रूप में या विशेष रूप में ग्रहण करता है तो वह व्यवहारनय में आभासित होगा। इस प्रकार नैगमनय सांयोगिक नय हो सकता है, किन्तु स्वतंत्र नय नहीं हो सकता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने नयों का एक विभाजन सुनय और दुर्नय के रूप में भी किया है[३९]। वस्तुतः जब प्रत्येक नय-दृष्टि को किसी दर्शन विशेष के साथ संयोजित करने का प्रयत्न किया गया तो जैन संघ में यह प्रश्न सामयिक रूपसे उत्पन्न हुआ होगा कि प्रत्येक दर्शन किसी नय-विशेष पर आश्रित/आधारित है इसलिए वह दर्शन सम्यग्दर्शन ही माना जाएगा, मिथ्यादर्शन नहीं माना जाएगा। इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए ही सामान्यतया आचार्य सिद्धसेन ने नयों के दो प्रकारों अर्थात् सुनय और दुर्नय की उद्भावना की होगी। क्योंकि किसी नय विशेष को स्वीकार करके भी दृष्टिकोण आग्रही हो तो वह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं हो सकता। जो नय अथवा दृष्टि अपने को ही एक मात्र सत्य माने और दूसरे का निषेध करे, वह दृष्टि सम्यक् दृष्टि या सुनय नहीं हो सकती। अन्य दर्शन यदि अपने ही दृष्टिकोण को एकमात्र सत्य मानेंगे तो वे नयाश्रित होकर भी सुनय की कोटि में नहीं रखे जाएंगे, अपितु उनका वह दृष्टिकोण दुर्नय कहा जाएगा क्योंकि वह अनेकान्त दृष्टि का निषेधक होगा। सिद्धसेन के अनुसार जो नय दूसरे नयों अर्थात् दृष्टियों का निषेधक नहीं होता, वह सुनय होता है। उसके विपरीत जो नय अपने अतिरिक्त दूसरे नयों का निषेध करता है या उन्हें मिथ्या मानता है, वह नय दुर्नय में आरोपित होता है[४०]।

आचार्य सिद्धसेन के नय विवेचन की विशेषता यह है कि नयदृष्टि के सम्यक् या मिथ्या होने का आधार उनके द्वारा अन्य नयों के निषेध पर आधारित है। जो नय अपने अतिरिक्त अन्य नयों या दृष्टिकोणों को स्वीकार करता है, वह सम्यक् होता है। इसी आधार पर उन्होंने जैन दर्शन को मिथ्यामत समूह के रूप में प्रतिपादित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न नय दृष्टियां जो अपने आप में केन्द्रित रहकर अन्य की निषेधक होने के कारण मिथ्यादृष्टि होती है, वही जब एक दूसरे से समन्वित हो जाती है तो सम्यक् दृष्टि बन जाती हैं[४१]। इसी अर्थ में आचार्य सिद्धसेन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने जैन दर्शन को मिथ्यामत-समूह कहा। क्योंकि वह अनेकान्त के आधार पर विभिन्न नय या दृष्टिकोण को समन्वित कर लेता है। आचार्य सिद्धसेन के नय चिंतन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने नय चिंतन को एक व्यापक परिमाण प्रदान किया।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि के सौ-सौ भेदों की कल्पना आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार यदि अन्य नयों के भी सौ-सौ नय कल्पित किए जांय तो नयों के सर्वाधिक भेदों के आधार पर सात सौ नयों की भी कल्पना समुचित मानी जा सकती है। मल्लवादी के **द्वादशार-नयचक्र** में नयों के इन सात सौ भेदों का निर्देश मात्र प्राप्त होता है[४२]।

संभवतः नयों के सात सौ भेद करने की यह परंपरा **द्वादशार-नयचक्र** के पूर्व की होगी। हम देखते है कि सिद्धसेन दिवाकर ने सर्वप्रथम एक कदम आगे बढकर यह कहा था कि नयों असंख्य हो सकता है। वस्तुतः वस्तु के प्रतिपादन की जितनी शैलियां हो सकती हैं उतने ही नय या नयदृष्टियां हो सकती हैं। एवं जितनी ही नयदृष्टियां होती हैं उतने ही पर-दर्शन होते हैं। क्योंकि प्रत्येक दर्शन किसी दृष्टिविशेष को स्वीकार करके वस्तु तत्त्व का विवेचन करता है[४३]। आचार्य सिद्धसेन का नयों के संदर्भ में यह अति व्यापक दृष्टिकोण परवर्ती जैन ग्रंथों में यथावत मान्य रहा है। **विशेषावश्यकभाष्य** के कर्त्ता जिनभद्र (प्रायः ईस्वी० ५५०-५९४) ने भी नयों के संदर्भ में इस व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। सिद्धसेन के **सन्मतिप्रकरण** की "जावइया वयणवहा" गाथा किंचित् पाठांतर के साथ **विशेषावश्यकभाष्य** में उपलब्ध होती है[४४]। वस्तुतः नय दृष्टि एक बंधी बंधाई दृष्टि नहीं है। इसमें एक व्यापकता रही हुई है और जैन आचार्यों ने इस व्यापक दृष्टि को आधार मान कर अपने-अपने ढंग से नयों का विवेचन भी किया है।

द्वादशार-नयचक्र में आगम प्रसिद्ध नयों के द्विविध वर्गीकरणों को स्वीकार करके उनमें दर्शन युग के सात नयों का समावेश तो किया ही गया है किन्तु इसके अतिरिक्त जैन दर्शन में अन्यत्र अनुपलब्ध ऐसे विधि, नियम, विधि-विधि आदि बारह नयों का उल्लेख भी किया गया है[४५]। उनके द्वारा यह नय द्वादशविधनय वर्गीकरण किस प्रकार से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे द्विविध और नैगम आदि सात नयों में अन्तर्भाजित हौता है, यह निम्न तालिका से स्पष्ट होता है।

१. विधि	द्रव्यार्थिक	व्यवहार
२. विधिविधिः	,,	संग्रहनय
३. विद्युभयम्	,,	,,
४. विधनियमः	,,	,,
५. उभयम्	,,	नैगमनय
६. उभयविधिः	,,	,,
७. उभयोभयम्	पर्यायार्थिक	ऋजुसूत्र
८. उभयनियमः	,,	शब्दनय
९. नियमः	,,	,,
१०. नियमविधिः	,,	समभिरूढ़
११. नियमोभयम्	,,	,,
१२. नियमनियमः	,,	एवंभूतनय

उपरोक्त बारह "अर" **द्वादशार-नयचक्र** की अपनी विशिष्टता है। विधि एवं नियम शब्द का अर्थ अनुक्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सत् का स्वीकार एवं अस्वीकार है। इन दो शब्दों के संयोजन से ही बारह भेद किए गए है। इसमें उस युग के समस्त भारतीय दर्शनका समावेश किया गया है। प्रथम चार अर में सत् को नित्य मानने वाले दर्शनों का समावेश किया है। उभयादि चार अर में सत् को नित्यानित्यात्मक मानने वाले दर्शनों का और अन्तिम चार अर में सत् को अनित्य मानने वाले दर्शनों का समावेश किया गया है[१६]।

यद्यपि ग्रंथकार ने स्वयं कहा है कि विधि आदि शब्द आगम में से ही उद्धृत किया है, परंतु विधिनियम शब्द का प्रयोग करके नयों का विभाजन करने की शैली जैन दर्शन के उपलब्ध साहित्य में अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर होती नहीं है। तत्कालीन समस्त दर्शनों को जैनदर्शन में समाविष्ट करने के लिए ही ग्रन्थकार ने विधिनियम शब्दका प्रयोग करके बारह अर का विवेचन किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में नयों का क्रमिक विकास हुआ है किन्तु **द्वादशार-नयचक्र** में प्रयुक्त शैली एवं नयों के नाम **नयचक्र** के पूर्ववर्ती या परवर्ती साहित्यमें उपलब्ध नहीं होते।

संदर्भसूची :-

१. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्। हेमचन्द्र, **अन्ययोगव्यवच्छेदिका** श्लो० २२; सं० मुनिश्री सूर्योदयविजयजी, चंदननी सुवास, श्री श्वे० मू० पू० जैन संघ, कराड सं० २०२०, पृ० २४१.

२. नयो ज्ञातुरभिप्रायः **लघीयस्त्रयी**, श्लो० ५५; सं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद १९९६, ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः। पृ० १०. **सिद्धिविनिश्चय टीका**, भट्ट अकलंक, सं० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९४४, पृ० ५१७.

३. अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति-प्रापयति संवेदनमारोहयतीति नयः॥ **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति**, शान्तिसूरि, प्रथमावृत्ति, सं० पं० दलसुख मालवणिया, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९४९, पृ० ७३.

४. **सन्मतिप्रकरण** भा० ४, सं० पं० सुखलाल संघवी - पं० बेचरदास दोशी, गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद १९३२, ३.४७.

५. **सन्मतिप्रकरण** - १.४-५.

६. महेन्द्रकुमार जैन, **जैन दर्शन**, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी १९७४. पृ० ३५१-३५४.

७. **न्यायावतारवार्तिकवृत्ति**, पृ० २२.

८. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दानयाः॥ **तत्त्वार्थसूत्र** १.३४, सं० पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी १९७६.

९. **सन्मतिप्रकरण** - १.४-५.

१०. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दनयाः॥ **तत्त्वार्थसूत्र** १, ३४.

११. **द्वादशारं नयचक्रं**, सं० मुनि जम्बूविजय, श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर १९८८, भा० १, पृ० १०.

१२. सप्तशतारनयचक्राध्ययने। **द्वादशारं-नयचक्रं**, पृ० ८८६.

१३. छारिया णं भंते ! पुच्छा ! गोयमा ! एत्थ दो नया भवंति, तं जहा-नेच्छिइयनए च वावहारियनए य।
वियाहपण्णत्तिसुत्तं, सं० पं० बेचरदास दोशी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९७८, पृ० ८१४.

१४. **न्यायावतारवार्त्तिकवृत्ति**, "प्रस्तावना", पृ० २२.

१५. तित्थयरवयणसंगह-विसेस पत्थार मूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा विकप्पा सिं। **सन्मतिप्रकरण** १. ३.

१६. **सन्मतिप्रकरण** भा० १, पृ० २.

१७. फाणियगुले णं भंते ! कतिवण्णे, कतिगंधे, कतिरसे, कतिफासे पन्नत्ते ? गोयमा ! एत्थं दो नया जवंति, तं जहा-नेच्छयियनए य वावहारियनए य। वावहारियनयस्स गोड्डे फालियगुले, नेच्छइय नयस्स पंचवण्णे, दुगंधे, पंचरसे, अट्ठफासे पन्नते। **वियाहपण्णत्ति** भा० २, पृ० ८१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. **स्थानांग-समवायांग**, सं० मुनि जम्बूविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८५, पृ० ३३८.

१९. ज्ञान मात्र प्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः। **जैनतर्कभाषा**, सं० दलसुख मालवणिया, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद १९९३, पृ० २३.

२०. क्रिया मात्र प्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः॥ **जैनतर्कभाषा**, पृ० २३.

२१. प्राधान्येन शब्द गोचरत्वाच्छब्द नयाः। **जैनतर्कभाषा**, पृ० २३.

२२. प्राधान्येनार्थगोचरत्वादर्थ नयाः॥ **जैनतर्कभाषा**, पृ० २३.

२३. सव्वनयान अनुमए रमेज्जा संजमे मुनी॥
उत्तराध्ययनसूत्र, सं० मुनि जम्बूविजयजी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९७७, ग्रन्थांक १५, ३६.२४९, पृ० ३२६. (यहाँ अर्धमागधी भाषा अनुसार शब्द-रूप लिया गया है।)

२४. सत्त मूलनया पन्नत्ता, तं जहा- नेगमे, संगेहि, ववहारे, उज्जुसुते, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते।
ठाणंगसुत्त, सं० मुनि जम्बूविजय, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८५, पृ० २२५.

२५. सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा- णेगमे, संगहे ववहारे, उज्जुसुए, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते।
नन्दीसूत्त अनुयोगदाराई, सं० पं० बेचरदास दोशी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९७८, पृ० २०४.

२६. वही

२७. तिण्हं सद्दणयाणं। **अणुओगद्दारसुत्त**, पृ० ७०.

२८. प्रमाणनयैरधिगमः। नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दनयाः। आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, क्रमशः १-६, १-३४, १-३५.

२९. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**- १.६.

३०. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**- १.३४.

३१. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र**- १.३५.

३२. नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूता नयाः॥ **सर्वार्थसिद्धि**, सं० पं० फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली १९९१, १.३३.

३३. अत्राह- किमेते तन्त्रान्तरीया वादित आहोस्वत्स्वतन्त्रा। एव चोदक पक्ष ग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति। आलोच्यते- नैते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतंत्रा मतिभेदेन। विप्रधाविताः। ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि। **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्**॥ पृ० ६३.

३४. स्त्रीग्रहणं तासामपि.....यथोक्तं यापनीय तन्त्रे। **ललितविस्तरा**, सं० विक्रमसेन वि० म० सा०, भुवन भद्रंकर साहित्य प्रचार केन्द्र, मद्रास वि० सं० २०५१, पृ० ४२७-४२८.

३५. **सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्**, भाषानुवाद, पं० खूबचन्द्रजी, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास १९३२, पृ०६३.

३६. **सन्मतिप्रकरण**, प्रथम काण्ड तथा तृतीय काण्ड।

३७. तित्थयर वयण संगह-विसेस पत्थारमूलवागरणी। दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा विकप्पा सिं॥
सन्मतिप्रकरण- १.३.

३८. **सन्मतिप्रकरण**- १.४-५.

३९. जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे। हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि॥
सन्मतिप्रकरण- १.१५.

४०. **सन्मतिप्रकरण**- १.२२-२८.

४१. भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स। जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स॥
सन्मतिप्रकरण- ३.६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. अर्हत्प्रणीत नैगमादि प्रत्येक शत संख्य प्रभेदात्मक सप्तनयशतार नयचक्राध्ययनानुसारिषु।
नयचक्र-वृत्ति, पृ० ८८६. एक्केक्को य सत विधो. (आव० नि० ७५९)..... ति तस्य शतभेदस्य सप्त नय शतार नयचक्रे।
नयचक्र-वृत्ति, माइल्ल धवल, सं० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९७१, पृ० ७८९.

४३. जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया। जावइया णयवाया तावइया चेव पर समया॥
सन्मतिप्रकरण- ३.४७.

४४. जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नया विसद्दाओ। ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिया सव्वे॥
विशेषावश्यकभाष्य, स्वोपज्ञवृत्ति सहित, सं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद-९, प्रथम संस्करण, १९६८, द्वितीय भाग-२७३६, पृ० ५२७.

४५. तयोर्भङ्गाः- १ विधिः, २ विधि-विधिः, ३ विधेर्विधि-नियमम्, ४ विधेर्नियमः, ५ विधि-नियमम्, ६ विधि-नियमस्य विधिः, ७ विधिनियमस्य विधिनियमम्, ८ विधिनियमस्य नियमः, ९ नियमः, १०, नियमस्य विधिः, ११ नियमस्य विधिनियमम्, १२ नियमस्य नियमः॥ द्वादशार-नयचक्र, पृ० १०.

४६. तत्र विधिभङ्गाश्चत्वार आद्या उभयभङ्गा मध्यमाश्चत्वारो नियमभङ्गाश्चत्वारः पाश्चात्या यथासंख्यं नित्यप्रतिज्ञाः, नित्यानित्यप्रतिज्ञाः अनित्यप्रतिज्ञाश्च। द्वादशार-नयचक्र-वृत्ति, पृ० ८७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org